जातियों के क्रमिक विकास को समझना जरूरी है।

- हाल ही में वर्तमान सरकार ने राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग को अपग्रेड करके उसे अनुसूचित जाति जनजाति के समतुल्य संवैधानिक दर्जा देने का जिस प्रकार से प्रयत्न किया है, उसने एक विवाद के साथ अनेक प्रष्न भी खड़े कर दिए हैं। सरकार के इस प्रयास से ऐसा लगता है कि जैसे भाजपा ने आत्म स्वीकारोक्ति की है कि अब उसको परंपरागत राजनीतिक विचारों से ऊपर उठकर हिंदुओं के साथ अन्य जातियों को भी साथ लेकर चलना होगा।सरकार के इस कदम ने एक बार फिर से प्रजातांत्रिक राज्य में जाति और आमजनों के लिए उसके महत्व पर विचार करने को मजबूर कर दिया है। इसके साथ ही पिछड़ेपन, राज्य-व्यवस्था में उसके होने और समस्त राजनैतिक प्रक्रिया में उसके व्यापक अर्थ के बारे में भी सोचे जाने का समय आ गया है।
- अखिल भारत में जाति का दूसरा नाम वर्ण-व्यवस्था रहा है, जो समय के साथ-साथ कमजोर होती गई। औद्योगीकरण और शहरीकरण के अलावा प्रजातांत्रिक व्यवस्था ने भी जाति प्रथा को कमजोर किया। जाति ऐसी प्रथा है, जिसे हटाने के लिए राजनीतिक हस्तक्षेप की आवष्यकता नहीं है। वह अपने आप ही कमजोर पड़ जाने वाली व्यवस्था है।जब भारत एक व्यवस्थित आर्थिक प्रगति की ओर बढ़ने लगा था, तब भी हमारे नीति-निर्माताओं ने उसमें जाति को कोई तवज्जों नहीं दी थी। यहाँ तक कि अनुसूचित जाति-जनजाति के लिए भी आरक्षण की व्यवस्था अस्थायी थी।पिछले सात दषकों से प्रजातांत्रिक राजनीति और आर्थिक विकास के होते हुए भी परिदृष्य कुछ अलग ही चल रहा है। जाति-व्यवस्था कहीं से भी लुप्त होती दिखाई नहीं दे रही है। जिस सामाजिक और आर्थिक ढांचे में जाति अस्तित्व में आई थी, उसके खत्म होने के बावजूद अनुक्रम से जुड़ी पहचान और आर्थिक भिन्नताएं चलती ही जा रही हैं।
- ऐसा लगता है कि जाति केवल संस्कारगत सामाजिक स्थिति और धार्मिक आस्थाओं की व्यवस्था नहीं है। वह हिंदू मानसिकता से परे हमारे आर्थिक जीवन और अवसरों को भी निर्धारित कर रही है।मजे की बात यह है कि अंग्रेजों ने भी वर्ण के साधारण से ढांचे को ही प्रचारित किया था। उन्हें यह भी पता था कि यह थोड़े समय में अपने आप ही कमजोर हो जाएगा। लेकिन 'पिछड़ेपन' वाली राजनीति,

20वीं शताब्दी के समय प्रारंभ हुई, जिसे अच्छा खासा आधिकारिक जामा पहना दिया गया। समाज का यह नया दर्जा सामाजिक-सुधारकों में जल्दी ही लोकप्रिय हो गया और राजनीतिज्ञों के लिए नया हथकंडा बन गया।एक प्रकार की गणनासूचक और वर्गीकरण वाली प्रक्रिया से ही हमारे दमित वर्ग में से एक वर्ग उभर कर आया, जिसे बाद में भारतीय संविधान में अनुसूचित जाति की तरह शामिल किया गया।

- संविधान निर्माताओं ने अन्य भारतीय नागरिकों से वंचित और असुरक्षित वर्ग के लिए भी नीति निर्माताओं को नीतियाँ बनाने की छूट दी। इस सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग को अलग पहचान दी गई, जो समान आर्थिक स्थिति रखने वाले समूहों से अलग थी। साल-दर-साल विभिन्न आयोगों द्वारा सरकारी नौकरियां प्राप्त करने हेतू इस पिछड़े वर्ग की सूची लंबी होती गई। 1990 में मंडल आयोग की सिफारिषों को लागू करना कोई नया कदम नहीं था। यह तो कई क्षेत्रों में बहुत समय से चल रहे 'अन्य पिछड़ा वर्ग' के लिए शैक्षणिक संस्थाओं में आरक्षण का विस्तार भर था।
- पिछले 70 वर्षों में इन पिछड़े वर्गों की जटिल सूची बनाने के साथ-साथ इसमें तीन गुना वृद्धि कर दी गई है। इस 'पिछड़ेपन' के विभिन्न स्तर अब जन नीतियों के केंद्र में आ गए हैं। स्वतंत्रता के प्रारंभिक वर्षों में जाति को मात्र परंपराओं के अवषेष के रूप में लिया जाता रहा, जिसे थोड़े ही समय में खत्म हो जाना था।मुख्यधारा वाले मध्य वर्ग के लिए आरक्षण की नीति की तरह ही जाति की राजनीति करना असामान्य था।लेकिन यही सच है कि जाति केवल संस्कारगत सामाजिक स्थिति और धार्मिक आस्थाओं की देन नहीं थी। इसे आर्थिक और सामाजिक शक्ति के आधार पर वर्गीकृत करके बनाया गया था। आज जिस प्रकार से जाति के पिछड़ेपन की बात की जा रही है, वह नागरिकों को समान स्तर पर लाने के लिए ही की जा रही है। इसमें जाति के अनुक्रम को पुनः स्थापित करने जैसी कोई बात नहीं है।
- पिछड़ा वर्ग आयोग को अपग्रेड करने से सरकार को इस क्षेत्र में योजनाओं को विस्तार देने के लिए अधिक मजबूती मिल जाएगी। ऐसा करते समय सरकार को जातियों के निर्माण के क्रमिक विकास को ध्यान में रखना चाहिए। साथ ही नीतियों को बनाते समय ऐसी भाषा का प्रयोग न करने पर ध्यान देना होगा, जिससे किसी तरह की समुदायगत पहचान को बल मिले। क्योंकि अभाव के कष्टों के निवारण के लिए जाति एक कारक हो सकता है, लेकिन वही एकमात्र कारक नहीं है।

'द इंडियन एक्सप्रेस' में सुरिंदर एस. जोधका के लेख पर आधारित।